

अनुभव कोई मापन नहीं है, यह सत्य की ओर ले जाने वाला मार्ग भी नहीं है। अनुभव आपको, अपने विश्वासों व संस्कारों के अनुसार होते हैं, और विश्वास का तो अर्थ ही स्वयं से पलायन है। मुझे यदि स्वयं को समझना हो, तो मुझे किसी विश्वास की दरकार नहीं है; मुझे केवल स्पष्टता से, बिना किसी चयन के अपना अवलोकन करना होगा, परस्पर संबंधों में, पलायनों में, आसक्तियों में स्वयं का निरीक्षण करना होगा। स्वतः का यह निरीक्षण बिना किसी पूर्वाग्रह, बिना किसी निष्कर्ष, बिना कोई निश्चय किए करना ज़रूरी है। इस निष्क्रिय सजगता में ही अकेलेपन की एक असाधारण दशा का हमें एहसास होता है। मुझे यकीन है कि आपमें से अधिकतर ने इसे जाना होगा--पूरी तरह से खाली-खाली होने का एहसास, जिसे कुछ भी नहीं भर पाता। केवल इस दशा में ठहरने से ही, जिसके दौरान सारे मूल्य समाप्त हो चुके होते हैं, केवल तभी जब हम अकेले हो पाने में समर्थ होते हैं और इस अकेलेपन का किसी भी पलायन के भाव के बगैर सामना कर पाते हैं, तभी यथार्थ अस्तित्व में आता है। क्योंकि मूल्य तो हमारे संस्कारों का ही परिणाम होते हैं; अनुभव की भांति, वे भी किसी विश्वास पर ही आधारित होते हैं और यथार्थ को समझ पाने में बाधा बनते हैं।

परंतु यह दुःसाध्य कार्य है तथा हममें से अधिकतर ऐसा करने के इच्छुक नहीं होते हैं। इसलिए हम अपने अनुभवों से चिपके रहते हैं--अंधविश्वास पर आधारित, गूढ़ अनुभव, संबंधों के, तथाकथित प्रेम के अनुभव, अधिकार के अनुभव। ये बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं, क्योंकि हमारा निर्माण ही इनसे हुआ है। हम विश्वासों, संस्कारों, परिवेशगत प्रभावों द्वारा निर्मित हैं; यही हमारी पृष्ठभूमि है। इसी पृष्ठभूमि से हम निर्णय लेते हैं, मूल्य निर्धारित करते हैं। और जब व्यक्ति इस सब से गुज़रता है, इस पृष्ठभूमि की समस्त प्रक्रिया को समझ लेता है, तो वह एक ऐसे बिंदु पर पहुंचता है, जहां वह नितांत एकाकी होता है। यथार्थ के अन्वेषण हेतु व्यक्ति को एकाकी होना ही होता है, जिसका अर्थ पलायन नहीं है, जीवन से भागना नहीं है। इसके उलट, यह तो जीवन को संपूर्ण सघनता से जीना है, क्योंकि उस स्थिति में अपनी पृष्ठभूमि से, पलायन के उन अनुभवों की स्मृति से व्यक्ति मुक्त होता है। उस एकाकीभाव में, उस अकेलेपन में कोई चयन नहीं होता है, जो है, उसका कोई भय नहीं होता है। भय का निर्माण तो तभी होता है, जब हम, जो है उसे देखने या मानने से इनकार कर देते हैं।

अतः यथार्थ के प्राकट्य हेतु, उन अनगिनत पलायनों को परे हटा देना अनिवार्य है, जिन्हें व्यक्ति ने स्थापित किया है और जिनमें वह फंसा हुआ है। यदि आप गौर से देखें तो आपको साफ नज़र आएगा, कि हम किस तरह लोगों का इस्तेमाल किया करते हैं--कैसे हम अपने पतियों का, पत्नियों का, या समूहों का, राष्ट्रीयताओं का इस्तेमाल अपने-आपसे भागने के लिए करते रहते हैं। अपने संबंधों में हम राहत खोजते हैं। राहत की यह तलाश कुछ प्रकार के अनुभव लाती है और उन अनुभवों को हम कस के पकड़े रहते हैं। जानकारी को भी स्वयं से पलायन का माध्यम बना कर हम असाधारण महत्त्व दे देते हैं; पर जाहिर है कि जानकारी तो यथार्थ की ओर ले जाने वाला मार्ग नहीं है। यथार्थ के प्राकट्य के लिए मन को पूर्णतः रिक्त, स्थिर होना होता है। किंतु ऐसा मन जो ज्ञान की डुगडुगी बजा रहा है, विश्वासों और धारणाओं का नशेड़ी है, लगातार बड़बड़ा रहा है, उसे ग्रहण करने में असमर्थ रहता है जो वस्तुतः है।

इसी प्रकार, यदि हम संबंध में राहत तलाशते हैं, तो संबंध हमारा स्वयं से बचाव बन जाता है, खुद को टालने का ज़रिया बन जाता है। अंततः हम संबंध में राहत चाहते हैं, कुछ ऐसा चाहते हैं जिसका हम सहारा ले सकें, हम आसरा चाहते हैं, हम चाहते हैं हमें प्रेम किया जाए, हम किसी के बन जाना चाहते हैं--जो सब हमारे अपने वजूद की गरीबी को ही बताता है। यही बात संपत्ति, नाम, उपाधियों और वस्तुओं के स्वामित्व की हमारी लालसा के बारे में है, जो उस आंतरिक अभाव की ही सूचक हैं।

जब व्यक्ति को यह एहसास हो जाता है कि यह यथार्थ की राह नहीं है, तब वह उस स्थिति में होता है, जब मन आराम और राहत की तलाश नहीं कर रहा होता, जब मन, 'जो है' से पूरी तरह संतुष्ट होता है--जिसका अर्थ गतिहीनता नहीं है। जो है, उससे भागने में मृत्यु है; जो है, उसकी पहचान और सजगता में जीवन है। अतः संस्कारबद्धता पर आधारित अनुभव, किसी विश्वास का अनुभव जो कि स्वयं से हमारे पलायन का परिणाम है, और संबंध का अनुभव--ये सब बाधा बन जाते हैं, अवरोध बन जाते हैं, ये हमारी अपर्याप्तताओं पर, अपूर्णताओं पर पर्दा डाले रहते हैं। और केवल तभी जब हम इन सब को पलायन के रूप में पहचान लेते हैं, अतएव इनका सच में मूल्य देख लेते हैं--केवल तभी उस खालीपन में, उस अकेलेपन में शांत, स्थिर बने रहने की संभावना होती है। और जब मन नितांत मौन होता है, वह जो है उसके प्रति न उसे स्वीकार करते हुए, न अस्वीकार करते हुए निष्क्रिय रूप से सजग होता है--मात्र तभी उस अपरिमेय यथार्थ की विद्यमानता की संभावना होती है।

प्रश्न : कोई देवी प्रयोजन है या नहीं है? यदि नहीं है तो हमारे प्रयत्नरत रहने का क्या अर्थ है?

कृष्णमूर्ति : हम प्रयत्नरत क्यों रहते हैं? और वह क्या है, जिसके लिए हम प्रयत्नों में लगे हैं? यदि हम प्रयत्नरत न रहें तो क्या होगा? क्या हम गतिहीन हो जाएंगे, हमारा क्षय होने लगेगा? कुछ बन जाने के लिए लगातार किया जाने वाला यह संघर्ष क्या है? यह संघर्ष, यह प्रयास क्या दर्शाता है? और क्या समझ प्रयास से, प्रयत्नों में जुटे रहने से आती है? व्यक्ति बेहतर बनने के लिए, खुद को बदलने के लिए, खुद को किसी खास ढर्रे में ढाल लेने के लिए, कुछ बन जाने के लिए--क्लर्क से मैनेजर और मैनेजर से दिव्यात्मा बन जाने के लिए प्रयत्नों में लगातार जुटा रहता है। और क्या यह संघर्ष समझ लाता है?

मेरे विचार में प्रयास के इस प्रश्न को वस्तुतः समझ लेना चाहिए। वह क्या है, जो प्रयास कर रहा है, और 'होने के संकल्प' से हमारा मतलब क्या है? हम कोई परिणाम प्राप्त करने के लिए, कुछ बन जाने के लिए, अधिक सदाचारी हो जाने या कम, कुछ और हो जाने के लिए प्रयास किया करते हैं, करते हैं न? हमारे भीतर सकारात्मक और नकारात्मक इच्छाओं में यह लगातार लड़ाई चलती रहती है, एक इच्छा दूसरी पर हावी होती रहती है, एक इच्छा दूसरी को नियंत्रित करती रहती है--बस हम इसे उच्च या निम्न स्व कह दिया करते हैं। लेकिन जाहिर है कि यह इच्छा ही है। आप इसे किसी भी स्तर पर आसीन कर सकते हैं और कोई अलग नाम दे सकते हैं, तब भी रहेगी यह इच्छा ही, कुछ बन जाने की तृष्णा भर। तो अपने भीतर और दूसरों के साथ, समाज के साथ भी यह निरंतर संघर्ष बना रहता है।

अब सवाल यह है कि क्या इच्छाओं का यह द्वंद्व समझ लाता है? क्या विपरीतों का, चाह और अचाह का यह द्वंद्व कुछ भी स्पष्ट कर पाता है? और क्या अपने आपको किसी धारणा के अनुरूप ढालने के संघर्ष से समझ का आगमन होता है? तो समस्या प्रयत्न की, संघर्ष की नहीं है, समस्या यह भी नहीं है कि यदि हम मानसिक रूप से और बाहरी तौर पर भी कुछ हो जाने के लिए प्रयत्नरत न रहते, यदि हम संघर्ष न करते, यदि हम प्रयास न करते, तो क्या होता; समस्या यह है कि समझ का आगमन कैसे होता है। क्योंकि एक बार यदि समझ आ जाए, तो प्रयत्न रहता नहीं। जो आप समझ लेते हैं, उससे आप मुक्त हो जाते हैं।

समझ अस्तित्व में कैसे आती है? मुझे नहीं मालूम अगर आपने कभी इस बात पर गौर किया है कि जितना ज़्यादा आप समझने के लिए संघर्ष करते हैं, उतना ही कम आप किसी समस्या को समझ पाते हैं। लेकिन

जिस पल आप संघर्ष करना बंद करते हैं और उस समस्या को अपनी सारी कहानी सुनाने देते हैं, अपना समस्त अभिप्राय बताने देते हैं--तब बात समझ आ जाती है, स्पष्ट ही जिसका अर्थ यह है कि समझने के लिए आपके मन का चुप होना ज़रूरी है। मन का, बिना हां-न के, निष्क्रिय रूप से सजग रहना ज़रूरी है; और उस स्थिति में अपने जीवन की उन बहुत सारी समस्याओं की समझ हममें होती है।

प्रश्नकर्ता यह जानना चाहता है कि कोई दैवी प्रयोजन है अथवा नहीं है। मैं नहीं जानता कि 'दैवी प्रयोजन' से आपका क्या तात्पर्य है पर हम यह तो जानते ही हैं कि हम दुख में हैं, हम विभ्रम में हैं, उलझन में हैं, वह विभ्रम और दुख सामाजिक स्तर पर, मनोवैज्ञानिक स्तर पर, व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर हमेशा बढ़ता ही जाता है। इस दुनिया का हमने यही हाल कर रखा है। तो कोई दैवी प्रयोजन है या नहीं, इस बात का कतई भी महत्त्व नहीं है। पर महत्त्व की बात उस विभ्रम को समझना है जिसमें हम बाह्य रूप से और आंतरिक रूप से भी रह रहे हैं। और उस विभ्रम को समझने के लिए आरंभ स्पष्टतः हमें स्वयं से ही करना होगा--क्योंकि हम ही विभ्रम हैं, हमने ही संसार में इस बाह्य विभ्रम को उत्पन्न किया है। और इस विभ्रम को दूर करने के लिए हमें स्वयं से ही आरंभ करना होगा, क्योंकि जो हम हैं, वही यह संसार भी है।

अब आप कहेंगे, "इस तरीके से संसार में व्यवस्था लाने में तो काफी लंबा वक्त लग जाएगा।" मैं जरा भी निश्चित नहीं हूँ कि आप सही हैं, क्योंकि आखिरकार वे कुछएक ही होते हैं, जो बिलकुल स्पष्ट होते हैं और समझ लेते हैं, वे ही क्रांति लाते हैं, परिवर्तन लाते हैं। पर हम आलसी हैं, मुश्किल यही है। हम चाहते हैं कि दूसरे बदल जाएं, हम चाहते हैं कि परिस्थितियां बदल जाएं, सरकार हमारे जीवन में व्यवस्था ले आए या कोई चमत्कार घट जाए जो हमें रूपांतरित कर दे। और इस तरह, हम विभ्रम से निभाए चले जाते हैं।

तो जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण बात है, वह इस बात की छान-बीन में लग जाना नहीं है कि कोई ईश्वरीय योजना होती है या नहीं होती है, क्योंकि उस अटकलबाजी में आप यह साबित करते हुए घंटों बरबाद कर सकते हैं कि होती है या नहीं होती है। वह प्रचारकों का खेल बन जाता है। पर महत्त्वपूर्ण बात स्वयं को विभ्रम से मुक्त कर लेना है, और उसके लिए समय की दरकार नहीं होती है। अनिवार्यता इस बात को देख लेने की है कि व्यक्ति विभ्रम में है, कि वह सारी गतिविधि, समस्त क्रिया जो उस विभ्रम से जन्म लेती है, वह भी दिग्भ्रमित ही होगी। यह ऐसे ही है जैसे कोई दिग्भ्रमित व्यक्ति किसी नेता की तलाश करे, उसका नेता भी दिग्भ्रमित ही होगा। तो आवश्यक यह है कि हम इसे देखें कि हम भ्रमित हैं, उलझन में हैं, और इससे भागने की कोशिश न करें, इसका स्पष्टीकरण न तलाशते रहें; निष्क्रिय रूप से, बिना हां-न के सजग रहें। और तब आप देखेंगे कि उस निष्क्रिय सजगता से एक सर्वथा भिन्न क्रिया का जन्म होता है; क्योंकि यदि आप विभ्रम की अवस्था को स्पष्ट कर लेने का प्रयास करते हैं, तो जो आप रचते हैं, वह अभी भी भ्रमित ही होगा। किंतु यदि आप स्वयं के प्रति सजग होते हैं, चुनावरहित और निष्क्रिय रूप से सजग होते हैं, तो वह विभ्रम, वह असमंजस खुलने लगता है और लुप्त हो जाता है।

यदि आप इसके साथ प्रयोग करेंगे, तो देख पाएंगे--और इसमें कोई बहुत अधिक समय नहीं लगने वाला है क्योंकि समय की तो इसमें कोई भूमिका ही नहीं है--कि स्पष्टीकरण भी मिल जाता है, चीज़ें स्पष्ट हो जाती हैं। पर आपको अपना पूरा ध्यान इसे देना होगा, अपनी पूरी दिलचस्पी इसे देनी होगी। और इस बारे में मैं जरा भी निश्चित नहीं हूँ कि हममें से अधिकतर लोग विभ्रम में, उलझन में बने रहना परसंद नहीं करते

हैं--क्योंकि असमंजस की हालत में आपको कुछ करने की दरकार नहीं होती। और इसलिए हम विभ्रम से संतुष्ट रहते हैं क्योंकि विभ्रम को समझना कर्म की मांग करता है, जो किसी आदर्श अथवा उद्भावना का अनुसरण नहीं है।

अतः ईश्वरीय योजना है या नहीं है, यह प्रश्न ही अप्रासंगिक है। हमें स्वयं को तथा इस विश्व को समझना है जिसे हमने निर्मित किया है : दुर्दशा, विभ्रम, द्वंद्व, युद्ध, शोषण। दूसरों के साथ संबंध में जो भी हम हैं, यह सब उसी का परिणाम है। यदि हम देख सकें कि कैसे हम दूसरों का इस्तेमाल करते हैं, कैसे हम लोगों के माध्यम से, संपत्ति के, जानकारी के माध्यम से स्वयं से भागने की कोशिश करते हैं और इस वजह से संबंध को, संपत्ति को, जानकारी को ज़बरदस्त महत्ता दे दिया करते हैं--यदि हम इस सब को देख सकें, इसके प्रति निष्क्रिय रूप से सजग हो सकें, तो हम उस पृष्ठभूमि से मुक्त हो जाएंगे, जो कि हम हैं। केवल तभी, 'जो है' का पता लगाने की संभावना होती है। लेकिन यह अनुमान लगा देने में घंटों बिता देना कि ईश्वरीय योजना होती है या नहीं होती है, इसके बारे में पता लगाने के प्रयासों में लगे रहना, इसके बारे में व्याख्यान दिया करना, मुझे ये सब एकदम बच्चों वाली बातें लगती हैं। क्योंकि शांति किसी योजना का अनुगामी बनने से नहीं आती, फिर वह योजना चाहे वामपंथी हो या ईश्वरीय हो। अनुगमन दमन मात्र है और दमन में भय होता है। शांति और निश्चलता केवल समझ में ही संभव है, और उस निश्चलता में यथार्थ का प्राकट्य होता है।

प्रश्न : क्या समझ व्यक्ति में अकस्मात् आ जाती है? अतीत के प्रयास तथा अनुभव से क्या उसका कोई संबंध नहीं होता?

कृष्णमूर्ति : अतीत के अनुभव से हमारा क्या तात्पर्य है? आप किसी चुनौती का अनुभव कैसे करते हैं? जीवन अंततः चुनौती एवं प्रत्युत्तर की प्रक्रिया है, है कि नहीं? चुनौती हमेशा नयी ही होती है, अन्यथा वह चुनौती ही नहीं है। और हमारा प्रत्युत्तर अपरिहार्य रूप से हमारे संस्कारों की पृष्ठभूमि का ही परिणाम होता है। अतः यदि यह प्रत्युत्तर उस चुनौती के संदर्भ में उपयुक्त, निःशेष व संपूर्ण नहीं है, तो यह संघर्ष व द्वंद्व ही निर्मित करेगा ही। चुनौती व प्रत्युत्तर के बीच इस द्वंद्व को ही हम अनुभव कहते हैं। मुझे नहीं मालूम कि यदि आपने कभी इस पर ध्यान दिया है कि अगर चुनौती के प्रति आपका उत्तर पूर्ण है, तो अनुभव करने की एक अवस्था मात्र होती है, अनुभव का स्मरण नहीं होता। परंतु जब प्रत्युत्तर चुनौती हेतु पर्याप्त नहीं होता, तो हम अनुभव की स्मृति से चिपटे रहते हैं।

यह इतना मुश्किल नहीं है, यूं परेशान न हों। इसकी थोड़ी छान-बीन और करते हैं और आप इसे देख पाएंगे। जैसा कि मैंने कहा, जीवन चुनौती और प्रत्युत्तर की एक प्रक्रिया है--सभी स्तरों पर, किसी एक विशेष स्तर पर नहीं; और जब तक वह प्रत्युत्तर, वह जवाब चुनौती के हिसाब से नाकाफी है, द्वंद्व होगा ही। निश्चित ही यह बात बिलकुल साफ है। और द्वंद्व निरपवाद रूप से समझ को घटित नहीं होने देता। द्वंद्व के द्वारा हम किसी समस्या को नहीं समझ पाते, क्या समझ पाते हैं? यदि मैं अपने पड़ोसी से, अपनी पत्नी से, अपने सहयोगियों से लगातार झगड़ता रहता हूँ, तो उस संबंध को समझ पाना संभव ही नहीं है। समझना तभी संभव होता है, जब कोई द्वंद्व नहीं होता।

क्या समझ अकस्मात् आ जाती है? तात्पर्य यह कि क्या द्वंद्व अकस्मात् समाप्त हो सकता है? या फिर, क्या व्यक्ति को अनगिनत द्वंद्वों से गुजरना होगा, प्रत्येक द्वंद्व को समझना होगा, और तब कहीं जाकर समस्त द्वंद्व से मुक्ति मिल पाएगी? मतलब यह कि अगर इस समस्या को अलग तरीके से रखें, तो मुझे यकीन है

कि इस प्रश्न के पीछे एक और प्रश्न है : चूंकि आप तमाम धुंधलकों, विभ्रमों व द्वंद्वों से होकर गुजरे थे, दिव्यात्माओं, पुनर्जन्म, तरह-तरह की सोसाइटियों वगैरह-वगैरह में आपकी आस्था हुआ करती थी, तो क्या मुझे भी इन सब से होकर नहीं गुजरना होगा? चूंकि आप कुछ विशेष अवस्थाओं में से होकर गुजरे थे, “क्या मुझे भी मुक्त होने के लिए उन अवस्थाओं से होकर नहीं जाना पड़ेगा?” अर्थात् क्या विभ्रम से मुक्त होने के लिए हम सब को विभ्रम का अनुभव नहीं कर लेना होगा?

इसलिए, क्या प्रश्न यह नहीं है : “क्या मुक्त होने हेतु कुछ विशिष्ट प्रारूपों का, ढांचों का अनुसरण करने या उन्हें स्वीकार करने एवं उन प्रारूपों के हिसाब से जी लेने से समझ का आगमन होता है?” उदाहरण के लिए, मान लें कि कभी किसी वक्त आप किन्हीं खास धारणाओं में विश्वास किया करते थे, पर अब आपने उन्हें परे हटा दिया है, आप मुक्त हैं और आपमें बोध है, समझ है। और मैं उधर आता हूँ एवं देखता हूँ कि आप कुछ विशेष विश्वासों के अनुसार जीते रहे और फिर आपने उन्हें त्याग दिया व समझ उपलब्ध कर ली। तो मैं खुद से कहता हूँ, “मैं भी उन विश्वासों का अनुसरण करूँगा या उन विश्वासों को स्वीकार कर लूँगा और आखिरकार बोध तक, समझ तक पहुँच ही जाऊँगा।” निश्चित ही यह एक गलत प्रक्रिया है, है न? जो महत्त्व की बात है, वह है समझना। क्या समझ समय का मसला है? यकीनन नहीं। अगर आपकी किसी चीज़ में दिलचस्पी है, तो समय का सवाल ही नहीं उठता। आपका पूरा अस्तित्व एकाग्रता से, पूरी तरह उस चीज़ में तल्लीन होता है। समय का सवाल तो इसमें तभी आता है, जब आप कोई फल, कोई परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं। अतः यदि आप बोध को, समझ को एक लक्ष्य की तरह मानकर चलते हैं जिसे आपने हासिल करना है, तब आपको समय की दरकार होती है, तब आप ‘तत्काल कर लेने’ या ‘स्थगित कर देने’ की बात उठाते हैं। परंतु समझ निश्चित ही एक परिणाम-प्रक्रिया नहीं है। समझ का, बोध का आगमन तब होता है, जब आप शांत होते हैं, जब मन निश्चल होता है। और यदि आप मन के निश्चल होने की आवश्यकता को देख लेते हैं, तो समझ तत्काल ही घटित होती है।

प्रश्न : आपके अनुसार सच्चे अर्थों में ध्यान क्या है?

कृष्णमूर्ति : ध्यान का उद्देश्य क्या है? और आप ध्यान को किस अर्थ में लेते हैं? मुझे मालूम नहीं कि आपने कभी ध्यान किया है क्या; अतः आइए, यह पता लगाने के लिए साथ-साथ प्रयोग करें कि सच्चे अर्थों में ध्यान क्या है। आप इस बारे में केवल मेरे कथन को ही न सुनें, अपितु हमें साथ-साथ अन्वेषण तथा अनुभव करना है कि सत्य ही में ध्यान होता क्या है। क्योंकि ध्यान महत्त्वपूर्ण है, है कि नहीं? यदि आप नहीं जानते कि सम्यक्, सही ध्यान क्या है, तो स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकता है, और बिना स्वयं को जाने ध्यान का कोई मतलब नहीं है। किसी कोने में बैठकर अथवा किसी बगीचे या गली में इधर-उधर टहलने और ध्यान करने की कोशिश करने का कोई अर्थ नहीं है। यह एक खास निजी किस्म की एकाग्रता तक ले जाता है, जो एक को पृथक करके बाकी का बहिष्कार है। आप लोगों में कुछ ने इन सब विधियों को निश्चित ही आजमाकर देखा होगा। अर्थात् आप किसी विशिष्ट विषय पर एकाग्रता साधते हैं, जब आपका मन यहाँ-वहाँ भटक रहा होता है तो उसे एकाग्र हो जाने के लिए मजबूर करने की कोशिश करते हैं, और जब यह बात बनती नहीं है तो आप प्रार्थना कर लेते हैं।

यदि हम वास्तव में जानना चाहते हैं कि सम्यक् ध्यान क्या है, तो हमें यह मालूम कर लेना होगा कि वे मिथ्या क्रियाएं क्या-क्या हैं, जिन्हें हमने ध्यान कहा है। निश्चित ही, एकाग्रता ध्यान नहीं है क्योंकि यदि आप निरीक्षण करें, तो एकाग्रता की प्रक्रिया में एक को विलग करके शेष का बहिष्कार है और इसलिए इसमें भटकाव है। आप किसी चीज़ पर एकाग्र होने की कोशिश करते हैं व आपका मन किसी और चीज़

में भटकने लगता है; और किसी एक विषय पर केंद्रित हो जाने की लड़ाई निरंतर चला करती है जबकि मन साफ मना कर देता है और फिर भटकने लगता है। और इस तरह एकाग्र होने के प्रयास में, एकाग्रता सीखने में, जिसे गलती से ध्यान कह दिया जाता है, हम सालों बिता देते हैं।

फिर प्रार्थना का प्रश्न नहीं आता है। स्पष्ट है कि प्रार्थना परिणाम तो देती है, अन्यथा लाखों लोग प्रार्थना न किया करते। प्रार्थना में कुछ विशेष शब्द-समूहों को लगातार दोहरा कर मन शांत बना लिया जाता है, मन शांत तो हो जाता है। और उस शांति में कुछ संकेत, कुछ अनुभूतियां, कुछ प्रत्युत्तर प्राप्त होते हैं। पर है यह अभी भी मन की युक्ति का ही एक भाग, क्योंकि एक प्रकार के सम्मोहन से आप मन को एकदम शांत बना सकते हैं। और उस शांति में कुछ प्रच्छन्न, छिपे हुए उत्तर प्रकट होते हैं, जो अचेतन से तथा चेतन मन के बाहर से आते हैं। लेकिन यह अभी भी एक ऐसी अवस्था ही है, जिसमें बोध नहीं है, समझ नहीं है।

और ध्यान पूजा-भक्ति भी नहीं है--चाहे वह भक्तिभाव किसी चित्र के प्रति हो या फिर किसी सिद्धांत के प्रति, क्योंकि मन की बनाई चीजें भी मूर्तिपूजा के दायरे में ही आती हैं। हो सकता है कोई व्यक्ति किसी मूर्ति को न पूजता हो, इसे मूढ़ता और अंधविश्वासपूर्ण बुतपरस्ती मानता हो, लेकिन वह भी ज़्यादातर लोगों की तरह मन की बनाई चीजों की पूजा तो करता है, तो यह भी बुतपरस्ती ही हुई। अतः किसी चित्र या धारणा या किसी गुरु-महात्मा के प्रति भक्तिपूर्ण होना, समर्पित होना ध्यान नहीं है। प्रत्यक्षतः यह स्वयं से पलायन का ही एक रूप है। यह बड़ा विश्रामदायक पलायन है, पर है तो पलायन ही।

सदाचारी बनने के लिए निरंतर प्रयत्नरत रहना, भली-भांति अपनी जांच-परख तथा अनुशासन के माध्यम से सद्गुणों की प्राप्ति करते रहना भी ध्यान नहीं है। हममें से अधिकतर लोग इन प्रक्रियाओं में उलझे हुए हैं, और चूंकि इनसे हमें स्वयं का बोध नहीं होता है, अपने बारे में समझ नहीं प्राप्त होती है, ये भी सही ध्यान का तरीका नहीं हैं। खुद को समझे बिना आपके पास आखिर सम्यक् विचार का, सही सोच का आधार ही क्या है? उस समझ के बिना आप जो कर लेंगे, वह इतना ही होगा कि आप अपने संस्कारों के प्रत्युत्तर का, उनकी पृष्ठभूमि का अनुसरण करने लगेंगे। और ऐसे संस्कारग्रस्त प्रत्युत्तर ध्यान नहीं हैं। लेकिन इन प्रत्युत्तरों, इन प्रतिक्रियाओं के प्रति सजग होना, ताकि स्व की हलचलें, स्व के रंग-ढंग पूरी तरह से समझ में आ जाएं--यही तरीका सही ध्यान का तरीका है।

जीवन से पीछे हट जाना ध्यान नहीं है। ध्यान अपने आप को समझने की एक प्रक्रिया है। और जब कोई अपने आपको, केवल चेतन स्तर पर नहीं अपितु भीतर के सभी प्रच्छन्न स्तरों पर भी समझना शुरू करता है, तब प्रशांति का आगमन होता है। जिस मन को ध्यान करके, बाध्य करके, अनुसरण करके स्थिर किया जाता है, वह मन स्थिर नहीं होता है। वह तो एक अवरुद्ध, गतिहीन मन होता है। वह ऐसा मन नहीं होता, जो सतर्क, निष्क्रिय एवं सर्जनात्मक ग्रहणशीलता में समर्थ हो। ध्यान में सतत प्रेक्षण की, जागरूकता की, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार तथा भाव के प्रति सजगता की दरकार होती है, जिससे हमारे अस्तित्व की, अपने होने की अवस्था उद्घाटित होती है, साफ पता चलती है, जो छिपी थी वह भी, और जो सतह पर है, वह भी; और चूंकि इसमें बहुत मेहनत लगती है, हम हर किस्म की, छलावे से भरी और राहत देने वाली चीजों के ज़रिये पलायन करते रहते हैं और इसे ही ध्यान कह दिया करते हैं।

यदि व्यक्ति यह देख पाता है कि स्वयं का ज्ञान ही ध्यान का प्रारंभ है, तब यह समस्या असाधारण रूप से रोचक तथा जीवंत बन जाती है। क्योंकि यदि आपको स्वयं का ही ज्ञान नहीं है, तो आप जिसे ध्यान कहते

हैं, उसके अभ्यास में लगे रह सकते हैं, और इस पर भी अपने सिद्धांतों में, अपने परिवार में, अपनी संपत्ति में आसक्त बने रह सकते हैं, या फिर अपनी संपत्ति को छोड़-छाड़ कर आप किसी अवधारणा के प्रति, किसी विचार के प्रति आसक्त हो सकते हैं और उसमें इस कदर केंद्रित, एकाग्र रह सकते हैं कि उसी अवधारणा को आप और-और अधिक निर्मित करते चले जाएं। निश्चित ही, वह ध्यान नहीं है। अतः स्व-ज्ञान ही ध्यान का आरंभ है, और स्व-ज्ञान के बिना ध्यान होता ही नहीं है। और जब कोई स्व-ज्ञान के इस प्रश्न की ओर गहराई में जाता है, तो न केवल ऊपर का, प्रकट मन शांत, मौन हो जाता है, बल्कि प्रच्छन्न मन के विभिन्न स्तर भी प्रकाश में आते हैं। जब सतही मन चुप होता है, तब चेतना की छिपी हुई, अचेतन परतें अपना प्रक्षेपण करने लगती हैं, वे अपनी अंतर्वस्तु को प्रकट करती हैं, वे अपने इशारे ज़ाहिर करती हैं, ताकि हमारे अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया को पूर्णरूपेण समझा जा सके।

तो मन नितांत निश्चल हो जाता है--यह निश्चल है, इसे निश्चल बनाया नहीं गया है। इसे निश्चल हो जाने के लिए किसी पारितोषिक द्वारा, भय द्वारा बाध्य नहीं किया गया है। तब एक खामोशी होती है, मौन होता है, जिसमें यथार्थ अस्तित्व में आता है। परंतु वह मौन ईसाई मौन, हिंदू मौन या बौद्ध मौन नहीं है। वह मौन बस मौन है, उसका कोई नाम नहीं है। यदि आप ईसाई या हिंदू या बौद्ध मौन के पथ का अनुसरण करेंगे, तो आप कभी मौन नहीं होंगे। जो मनुष्य यथार्थ का अन्वेषण करना चाहता हो, उसे अपनी संस्कारबद्धता का पूरी तरह से परित्याग करना होगा--चाहे वह संस्कारबद्धता ईसाई हो, हिंदू हो, बौद्ध हो या किसी अन्य समुदाय की हो। ध्यान के माध्यम से, अनुसरण के माध्यम से पृष्ठभूमि को मजबूत कर लेना केवल मन की गतिहीनता, मन की मंदता लाता है और मैं कतई निश्चित नहीं हूँ कि यही वह नहीं है, जो हममें से अधिकतर लोग चाहते हैं, क्योंकि कोई प्रारूप, कोई ढांचा बना लेना और उसका अनुसरण करना अपेक्षाकृत बहुत आसान है। किंतु पृष्ठभूमि से मुक्त होना संबंध में निरंतर जागरूकता की, निरीक्षण की मांग करता है।

जब एक बार वह मौन आ जाए, तो एक असाधारण सर्जनशीलता की स्थिति होती है--ऐसा नहीं है कि आप कविताएं लिखेंगे ही, चित्र बनाएंगे ही; हो सकता है आप ऐसा करें, या हो सकता है आप यह सब न करें। लेकिन उस मौन के पीछे नहीं भाग सकते, उसकी नकल नहीं उतारी जा सकती, अनुकरण नहीं किया जा सकता--उस हालत में वह मौन नहीं रह जाता। आप इस तक किसी मार्ग द्वारा नहीं पहुंच सकते। यह तब वजूद में आता है, जब स्व के, 'मैं' के तरीके समझ लिए जाते हैं और उस स्व का अपनी तमाम हलचलों और खुराफात के साथ अंत हो जाता है। अर्थात् मन जब सर्जन करना बंद कर दे, तो सर्जन विद्यमान होता है।

अतएव मन को सरल होना होगा, शांत होना होगा--'होगा' तो गलत है : यह कहने में कि मन को शांत होना होगा, बाध्यता निहित है--और मन तभी शांत होता है, निश्चल होता है, जब स्व की, 'मैं' की समग्र प्रक्रिया का अवसान हो चुका हो। जब स्व के सारे तौर-तरीके समझ लिए गए हों, और इसलिए स्व की गतिविधियों का अंत हो गया हो, मौन केवल तभी होता है। वह मौन ही सच्चे अर्थों में ध्यान है। और उस मौन में ही शाश्वत का आविर्भाव होता है।

लंदन, 23 अक्टूबर 1949